अध्याय - 7

साधनात्मक एवं सामन्तीय काव्य की प्रशस्ति का तुलनात्मक अनुशीलन

साहित्य में सत्य के अनुसन्धान की परम्परा के मध्य जहाँ और अनेकों पद्धतियाँ अपनायी जाती रही हैं, वहीं विभिन्न काव्य-धाराओं तथा एक ही काव्य-धारा के विभिन्न पहलुओं के परितुलन से भी अभीष्ट तथ्य की प्रामाणिकता सिद्ध की जाती रही है । आदिकालीन काव्य में प्रशस्ति के स्वरूप और उसकी चेतना को लेकर साधनात्मक और सामन्तीय वर्गों में जो अनुशीलन पिछले तीन अध्यायों में किया जा चुका है उससे उत्पन्न परिणाम प्रायः जैन, सिद्ध एवं नाथ तथा सामन्तीय जीवन बोध के पृथक-पृथक प्रभाव की प्रेरणा के परिपाक हैं । आवश्यकता इस बात की है कि जीवन के पृथक आयामों से अनुप्रेरित, विचार एवं जीवन दर्शन सम्बन्धी अन्तर से उत्पन्न प्रशस्ति भाव की जो अखण्ड एकता है उसे देखा और समझा जाए । इस दृष्टि से आदिकाल के साधनामूलक और सामन्तीय बोध वाले काव्यों में रूप ग्रहण कर रही प्रशस्ति की समता - विषमता अवलोकनीय है ।

साम्य :-

हिन्दी का आदिकाल जिसका प्रारम्भ अधिकांश विद्वानों ने 10वीं शताब्दी
से माना है । सामान्य विद्यार्थियों के विचार से वीरगाथा काल या वीर भाव प्रधान
काव्य युग है । आचार्य शुक्ल की प्रारम्भिक गवेषणाओं में हिन्दी के आरम्भ काल को तो
वीरगाथा काल कहा ही गया था । हो सकता है कि चारणों की कुछ रचनाओं के वीरता
प्रधान विषयों के प्रभाव में ही शुक्ल जी ने ऐसा निर्णय लिया हो किन्तु इस सत्य को
अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि चारणों से भिन्न अपभ्रंश भाषा में लिखे गए साधनात्मक
काव्यों में भी वीर चरित्रों की चरितावली का अखण्ड वर्चस्व अपने दर्प एवं गौरव में किसी
प्रकार कम नहीं । 'भारतेश्वर बाहुबलि रास' की वीर रस प्रधान व्यंजनाओं के बीच
वीरता मूलक जिस प्रशस्ति के दर्शन होते हैं वह 'पृथ्वीराज रासो' अथवा 'आल्ह-खण्ड'
के वीर भाव को विभाषित करने वाली प्रशस्तियों से पूरी समता रखती है ।

अपभ्रंश भाषा के योगदान का मूल्यांकन करते हुए डा0 नामवर सिंह ने
यह बात स्वीकारी है कि 'जैन पण्डितों, मुनियों और बौद्ध सिद्धों के धार्मिक साहित्य
के बीच ऐहिक जीवन को लेकर लिखी गयी वीर और श्रृंगार की ललित रचनाएं भी

मिलती है । x x x x x जैन मुनियों की आचार प्रधान सूक्तियों के बीच उत्साह और दर्प से भरे हुए उस काव्य को देख कर साफ मालूम होता है कि वह आभीर, गोप, गुर्जर आदि युद्ध प्रिय जातियों का उन्मुक्त हृदयोद्गार है । युद्धों का वर्णन तो अपभ्रंश के अनेक चरित काव्यों और पुराणों में भी मिलता है, लेकिन उनमें हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों के टाप की आवाज और शस्त्रों के नाम की लम्बी सूची ही अधिक मिलती ; सच्चे वीर हृदय का उत्साह वहां कहां ? यदि ऐसा शौर्य देखना हो तो हैम व्याकरण के इन उदाहरणों को देखें । यहां पुरुष का पौरुष ही नहीं, उसके पार्श्व में वीर रमणी का दर्प भरा प्रोत्साहन भी मिलेगा -- यदि एक ओर शिव का ताण्डव है तो दूसरी ओर उनके पार्श्व में शक्ति का लास्य भी है ।'[1]

जीवन की जिन दिशाओं का रेखांकन साधनात्मक काव्यों के सन्दर्भ में हैम व्याकरण के उदाहरण देते हुए श्री नामवर जी ने किया है, सामन्तीय काव्य अथवा वीर गाथाओं में उनके ही स्वर की गुरु अनुगूंज सुनाई पड़ती है । लहन्तिहार वीरों के द्वारा लिखा गया हडैते भांखियों के साक्ष्य के एक-एक शब्द से तलवार की झंकृति और ललकार भरी वीरों के दर्प की ध्वनि देखी जाती है । प्रशस्ति की यह मूल भाव धारा साधनागत, भाषागत, कालगत, परिवेश गत सभी अन्तरों के आवरण को चीरती हुई प्रशस्ति के शुद्ध भाव-भूमि की अखंड रचना करती है ।

वीरता मूलक प्रशस्ति की यही एक रूपता साधनात्मक एवं सामन्तीय काव्यों में ही, ऐसी बात नहीं है । आदिकाल की उपलब्ध सामग्री के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरित प्रधान शैली में लिखे गए अपभ्रंश काव्यों के शिल्प तन्त्र का चारणों की डिंगल भाषा में रचे जाने वाले काव्यों की रूप-रचना से पर्याप्त साम्य है । जिस प्रकार जैन चरित काव्यों में लाए गए पात्रों की वीरता के लम्बे आख्यान प्रस्तुत किए गए हैं, उनकी कीर्तिगान के लम्बे दस्तावेज उपस्थित हुए हैं ठीक उसी प्रकार चारणों ने अपने राजस्थानी डिंगल काव्यों में आश्रयदाताओं की वीरता, दानशीलता से सम्बन्धित बड़े लम्बे - लम्बे पंवारे लिखे हैं, डींगें मारी हैं ।

इस दृष्टि से यह अंगीकारने में कोई सन्देह नहीं होता कि अपभ्रंश के चरित काव्य और डिंगल की वीरगाथाओं में प्रशस्ति, शापन की दृष्टि से वस्तु एवं

1- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : संस्करण 1965 : पृ0-229-230

शिल्प दोनों स्तरों पर पर्याप्त साम्य है ।

अब तक जो विश्लेषण किया गया है उससे उभय कोटि के काव्यों में समता का एक स्वर और भी उभरता है । अपभ्रंश के जितने चरित काव्य, पद्य काव्य, रास एवं रासान्वयी काव्य यहाँ तक कि चर्चरी और चर्यागीत भी लिखे गए हैं उन सबके प्रारम्भ में प्राय: देवी कोटि के पात्रों की स्तुतियाँ मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं । साधनारत कवियों के इस शास्त्रीय अथवा परम्परित रूप का निर्वाह करते हुए राजस्थान के चारण कवियों ने डिंगल भाषाओं में जो सामन्तीय काव्य लिखे हैं उनमें भी स्तुति मूलक प्रशस्तियों का यही सबल स्वर पाया जाता है ।

इस शोध - प्रबन्ध के मूल कलेवर अर्थात् चौथे, पाँचवें और छठवें अध्याय में विषय की जो विशद विवेचना की गयी है उससे निकले हुए परिणाम के रूप में प्रशस्ति की दो ही मुख्य धाराएँ दिखाई पड़ती हैं –

अ- स्तुतिमूलक प्रशस्ति ।

ब- वीरता मूलक प्रशस्ति ।

कहने की आवश्यकता नहीं की प्रशस्ति की इन दोनों वृत्तियों के विचार से अपभ्रंश भाषा में लिखे गए साधनात्मक काव्य का डिंगल भाषा में लिखे गए सामन्तीय काव्य से बहुत कुछ साम्य है । जैनियों के रास काव्य में चाहे वह 'रेवन्तगिरि रास' हो, 'चन्दन बाला रास' हो, 'गय सुकुमाल रास' हो अथवा 'भारतेश्वर बाहुबलि रास' हो सबके प्रारम्भ में स्तुतियों का विधान है । जैनेन्द्र की स्तुति करते हुए यदि 'भारतेश्वर बाहुबलि घोर रास' के प्रणेता लिखते हैं –

'पहिलउं जिणन्द नमवि भति एहु जिणाइ सेहु धरेवि ।
बाहु बलि केरउ निजउ ॥ 1 ॥
सयलइ पुलइ णाणिव देवि भरहेसरु जिय पाहि ठवेवि ।
रिसहेसरि सिंजामिथियउ ॥ 2 ॥'[1]

तो सामन्तीय काव्य के प्रमुख प्रणेता चन्द वरदिाय अपनी रचना के सर्वमंगल समापन हेतु भवानी की आराधना का उच्चारण करते हैं –

1- रास एवं रासान्वयी काव्य के पृ० 57 पर उद्धृत ।

'जया, विज्जया, भद्रकाली, कंकाली
शिवा शंकरी तिष्णु वोमीह वोधं ।
वराही, चमुण्डा, दुर्गा, जोगिनोधं ॥
महायोगिनी मंगलास्त अंबी ।
महामाय, पारबत्ती, ज्वाल मुंषी ॥'[1]

स्तुति एवं आराधना के स्तर पर इस समता के साथ - साथ वीर - भाव और वीरता मूलक प्रशस्ति की दृष्टि से भी उभय धाराओं की प्रशस्ति विषयक विचारणा में काफी साम्य देखा जाता है । रासो काव्यों में सुख्यात, आदिकाल की वीरता का मानदण्ड 'भारतेश्वर बाहुबलि रास' में भारतीय वीर धर्म के जिस सराहनीय स्वरूप की व्यंजना मिलती है वह वीरगाथा काल की किसी भी रचना के वीर भाव से किसी भी माने में कम नहीं है । सलष की वीरता के गीत गाते हुए चन्द कहते हैं –

'अब्बू दै दै गैदमर समर समयन तेज ।
समर उंच समरंग धरि समर सुपुब्जे हेज ॥
षेम करन धंगार भर दर उछ बरन नरिंद ।
भीम पैन परताप पति दर प्रहार दर चन्द ॥'[2]

इसी प्रकार की प्रवृत्ति 'भारतेश्वर बाहुबलि घोर रास' में भी देखी जाती है –

'उत्तरु ताव न देइ बाहुबलि भरहेसरह ।
जो रसिउ ताव भरहेसरु धरि आइयउ ॥ 41 ॥
पडु भरिहेसरि राएं रिसह जिणसरु पूछियउं ।
सबाहुबलि भाई साम्यि काई हराविउं ॥ 42 ॥'[3]

प्रशस्ति के भेदोपभेद के विचार से साधनात्मक और सामन्तीय काव्यों के

1- पृ०रा०रा० : समय 67 : वान बोध प्रस्ताव् ।
2- वही : भाग 2 : समय 12 : छन्द संख्या 7.
3- भारतेश्वर बाहुबलि घोर रास : छन्द संख्या - 41, 42.

स्वरों में भी आलम्बन भेद से एकरूपता देखी जाती है। उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश के जैन काव्यों में यदि प्रणति, समाराधना, स्तुति एवं वन्दना, यशगान, सम्पदा एवं वैभव - वर्णन के रूप में प्रशस्ति की व्यंजनाएँ हुई हैं तो सिद्ध - नाथों की रचनाओं में भी प्रणति एवं समाराधना तथा महिमागान का स्वर प्रमुख है और इसी क्रम में इस तथ्य को भी स्वीकारना पड़ता है कि चारणों द्वारा लिखित सामन्तीय काव्य में भी प्रशस्ति की व्यंजना जिन रूपों में हुई है उनमें स्तुति एवं आराधना, यशगान एवं महिमा - निरूपण, वीरता - वर्णन, वैभव एवं सम्पदा का चित्रण तथा रूप विषयक उक्तियों के रूप में प्रशस्ति की व्यंजनाएँ मिलती हैं। इन तथ्यों के प्रकाश में यह स्वतः स्पष्ट है कि साधनात्मक और सामन्तीय काव्य की उभय धाराओं के मध्य के प्रवहमान प्रशस्ति का मूल भाव अनेकता में एकता को बनाए हुए है। यही एकता दोनों प्रकार के आदिकालीन काव्य की उभय निष्ठ सम्पदा है।

वैषम्य :-

लगभग 900 वर्ष के विशाल काल खण्ड में फैली आदिकाल के साहित्य की रचना - भूमि, भाषा, शैली, छन्द, रचनाधर्मिता आदि कई दृष्टियों से वैविध्यपूर्ण है। किन्तु विविधता का आधार लेकर रचा गया यह विपुल साहित्य जीवन के लक्ष्य के आधार से और अभिव्यंजनाक्षम भाषा की दृष्टि से भी मुख्य दो भागों में अंगीकृत है। इसे हम साधनात्मक एवं सामन्तीय साहित्य के नाम से स्वीकार चुके हैं। एक ही अपभ्रंश भाषा के दो रूपों में दो प्रकार के जीवन मूल्यों की व्यंजना ही इस बात को प्रमाणित करती है कि इन दोनों काव्यों के बीच में अन्तर डालने वाली विभाजन की कोई मोटी रेखा अवश्य खिंच गयी है। प्रशस्ति के कलम के केन्द्र से आर हमने दोनों प्रकार के काव्य की जिस समता के स्वर का संकेत किया है वह पूरे साक्ष्य के साथ प्रमाणित है, फिर भी दोनों काव्यों में कई दृष्टि से पृथकता स्पष्ट रूप से मानी गयी है।

साधनात्मक स्वर वाली आदिकालीन काव्य - धारा में जैन सन्तों की अहिंसा, सहिष्णुता, विरक्ति, सदाचार आदि मूल्यों से समन्वित चरित काव्य, कथा काव्य, रहस्यवादी काव्य की रचना हुई है। इन कवियों ने श्रृंगार, शौर्य, नीति, राजनीति तथा अन्योक्ति से जुड़े हुए जीवन के नाना सन्दर्भों का अनुसन्धान किया है।

नव नाथ और चौरासी सिद्धों द्वारा लाई गयी सांस्कृतिक वृत्ति साहित्य सर्जना के स्तर पर एक आडम्बर विहीन, वर्जनाहीन भावुकता का विधान कर गयी है। गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय के रूप में जो आन्दोलन चलाया था, वह भारत की तत्कालीन मानसिकता के सर्वथा अनुकूल था। इस साधनात्मक आन्दोलन के प्रभाव से यदि एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा का अभ्युदय हुआ तो दूसरी ओर समाज को विकलांग बनाने वाली रूढ़ियों पर रोलर भी चलाया गया। परिणाम यह हुआ कि नाथों की साधना पद्धति से मानव जीवन का स्वस्थ संयम एवं अनुशासन की घूंटी पी कर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए एक सहज राजमार्ग का निर्माण कर गया। कुल मिला कर यह तीनों प्रकार का काव्य मनुष्य के बहिरंग से पराङ्मुख होकर अन्तर की ऊर्ध्वगामी चेतना का अभिषेक करता रहा। ठीक इसके विपरीत राजपूताना की वीर भूमि में जन्मने वाले तलवार के धनी राजपूतों की वीर गाथा लिखने वाले चारण कवियों की रचनाओं का लक्ष्य अन्तरंग की अपेक्षा बहिरंग की सज्जा और उसके सुख-भोग की ओर अधिक था। ईमानदारी की बात तो यह है कि आदिकाल के काव्य की ये दो धाराएं निवृत्ति और प्रवृत्ति की सरणि में स्पष्ट रूप से बंटी हुई हैं। इसलिए इनकी प्रकृति और निकाय में कोई समता नहीं है।

साधनारत जैन, सिद्ध और नाथों ने यदि दैवी कोटि के पात्रों का सभूह चयन किया है तो उनका लक्ष्य लोक सुख-भोग का समंगल समापन का न होकर साधना के निर्विघ्न अनुष्ठान की प्रतिष्ठा है। किन्तु चारणों द्वारा देवी-देवताओं की जो स्तुतियां की गयी हैं वे विजय लाभ, वर लाभ, कन्या लाभ, प्रेम-लाभ, धन लाभ, यश लाभ के लौकिक लोभ से जुड़ी हुई हैं। स्तुति मूलक प्रशस्ति दोनों प्रकार के काव्यों में है, किन्तु स्तुतियों के उद्देश्य में अन्तर है। कृति और कार्य में समता होने के बावजूद भी कर्म की प्रेरणा और उसके परिपाक में अन्तर है।

साधनात्मक साहित्य के अनुशीलन के बीच से गुजरते हुए यह देखा जा चुका है कि निवृत्ति सेवी भी यदि वीरता आदि के प्रदर्शन में डिंगल भाषा के चारण कवियों के समान मानव के पुरुषार्थ को शारीरिक स्तर पर पूर्णतया समादर देते हैं। अनेक रास और रासान्वयी काव्य तथा चरित काव्य में आप्यायित होने वाले पात्र अपनी वीरता के प्रदर्शन में राजपूताने के क्षत्रिय कुमारों के ही समान उत्साह भाव के आश्रय स्थल बने हुए हैं। यहां विचारणीय यह है कि ऐसे वीर चरित्रों का जैनाचार्यों ने जो

चित्रण किया है उसके पीछे शौर्य के तटस्थ निरूपण का उद्देश्य न होकर अपने धर्म की प्रोत्साहन देने वाले पुरुषों की वीरता का बखान है । सिद्धों और नाथों ने अपने कुत्सित संस्कारों से लड़ने के बहाने से ही, जिसे हम आत्मनियन्त्रण कह सकते हैं, पुरुषार्थ की सार्थकता दी है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के निरोध से सहज साधना के पंथ को प्रशस्त करना ही सिद्ध - नाथों की भाषा में सबसे बड़ी वीरता थी । शायद इसीलिए उनके यहां गुरु - महिमा के गान की प्रबल प्रवृत्ति मिलती है ।

जैनों, सिद्धों और नाथों ने भारत के सनातन वैदिक धर्म के विरुद्ध, धर्म के वाह्याचार और कर्मकाण्ड के खिलाफ कटुता पूर्ण आन्दोलन छेड़ा था किन्तु चारणों ने राजपूतों की जिस संस्कृति का स्वरूप निरूपित किया है वह मूलरूप से वैदिक धर्म की ही प्रतिष्ठा करती है । ऐसी स्थिति में वेद विहित परम्परा के विरोध को लेकर चलने वाले आदिकाल के साधनात्मक काव्य में प्रशस्ति भाव की आत्मा का वैदिक भाव होना और युद्ध मानने वाले चारणों की प्रशस्ति भावना के साथ अन्तर समानता असम्भव है फिर भी दोनों प्रकार के कवियों की रचनाओं में व्यंजित प्रशस्ति की रूप रेखा में समता दिखाई पड़ती है ।

अपभ्रंश और डिंगल भाषा में लिखी गयी आदिकाल की रचनाओं का अन्तर लौकिक लगाव की दृष्टि से भी है । जैन, सिद्ध और नाथ कवियों की दृष्टि लोक जीवन के प्रति उदासीन दृष्टि थी । चारणों का जीवन दृष्टिकोण लोक जीवन पर ही टिका हुआ था । वे लोक को सुखी बनाने के लिए अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व स्वीकारते थे, जबकि साधनारत कवियों ने लोक का सहारा जहाँ कहीं लिया भी है तो उनकी दृष्टि पारलौकिक दृष्टि के परिमार्जन हेतु ही रही । यही कारण है कि साधनाभाव से लिखे गए अपभ्रंश काव्य में न केवल प्रशस्ति अपितु समस्त विषयों की दिशा चारणों की कविता की दिशा से भिन्न है ।

साधनात्मक और सामन्तीय काव्य में यही अन्तर है जो उनके युग एवं दर्शन में अन्तर है । जैन - सिद्ध और नाथ कवियों के जीवन को प्रेरित करने वाले जिन तत्वों ने उस युग की जीवन शैली दी थी उससे पूर्णतया भिन्न जीवनानुभूतियाँ सामन्तीय काव्य की आधारिक भूमि में विद्यमान थी । साधनात्मक साहित्यकारों ने साहित्य की उपासना अपने धर्म, अपनी नीति और अपनी दार्शनिकता की अनुरक्षा के

लिए की थी, किन्तु युद्ध और भोग की युगल प्रवृत्तियों में जीवन का सब कुछ मानने वाले राजपूताना के चारण कवियों में साहित्य का समाश्रय दर्प और दीप्ति के निर्माण के लिए था । इस शोध - प्रबन्ध के चौथे, पांचवें और छठें अध्याय में की गयी वस्तु विवेचना की परम्परा के बीच साधनात्मक कवियों द्वारा की गयी सरस्वती वन्दना के अनेक स्थल देखे गए हैं, किन्तु चारणों, भाटों, सेवगों, दसौंधियों की लेखनी से प्रसूत डिंगल भाषा की कृतियों में सरस्वती की महिमा के गान के स्थल शायद भूल कर भी नहीं दिखाई पड़ते ।

आदिकाल के उभय प्रकार के काव्यों में अन्तर का एक मुद्दा और भी है । सिद्धों नाथों और जैनियों के जीवन और उनके काव्य का उद्देश्य जीव मात्र के योग क्षेम से जुड़ा हुआ था जिसकी रीढ़ अहिंसा से निर्मित थी किन्तु रणांगन की शय - शय्या में जीवन का आनन्द लेने वाले क्षात्र धर्म के केन्द्र से लिखे गए सामन्तीय काव्य में हिंसा - प्रतिहिंसा, मार - काट, संहार - विनाश आदि का सप्राण चित्रण देखा जाता है । ऐसी स्थिति में नर हत्या की मात्र संहारक वृत्ति को आक्रामक - अनाक्रामक रूप में निदर्शित करने वाली चारणीय कविता में कथ्य के विचार से वह रंग - ढंग कदापि नहीं है जो नाथ और सिद्ध कवियों में है ।

प्रशस्तिवादी चेतना वाली कृतियों में प्रतिष्ठित नायक - नायिकाओं की सम्पदा, वैभव, ऐश्वर्य आदि की प्रभावी झांकियां दिखाने की एक परम्परा सी है । प्रशस्ति के इस स्वर की गूंज आदिकाल के साधनात्मक और सामन्तीय काव्यों में अपने ढंग की अलग और वैविध्यपूर्ण है । साधनारत जैन, सिद्ध और नाथ कवियों ने अपने वैभव - निर्माण की पीठिका में उदात्त सात्विकशील वृत्तियों की प्रेरणा ग्रहण की है किन्तु राजसी ठाट - बाट, वैभव - विलास के दर्प से दीपित चारणों की डिंगल रचनाओं में सम्पदा की यह तसवीर बड़ा राजस भाव के रथ पर सवार होकर सामने आई है । चारण कवियों ने धर पक्ष या शत्रु पक्ष को आलोकित करने के लिए अपने आश्रयदाता के वैभव विलास की अतिरंजनापूर्ण व्यंजनाएं की हैं किन्तु साधनारत अपभ्रंश भाषा के साहित्यकारों की दृष्टि आराध्य के रूप को आदर्श बनाना ही रहा है । हां, जहां - तहां जैन कवियों की लोकरस प्रधान रचनाओं में सम्पदा मूलक प्रशस्ति का ठीक वही स्वर है जो स्वर सामन्तीय बोध से निष्पन्न वीरगाथाओं में पाया जाता है ।

कम अधिक रूप में वर्णन और प्रयोग की दृष्टि का यही अन्तर लेकर उभय प्रकार की रचनाओं में रूपात्मक प्रशस्ति की भी प्रतिष्ठा की गयी है। साधना प्रधान अपभ्रंश रचनाओं में एक तो आराध्य के स्वरूप की व्यंजना है जिससे पाठकों और श्रोताओं के चित्त में यह रूप भक्ति और श्रद्धा का आलम्बन बनकर आता है दूसरे रूप के इस विधान में कवि की वर्णन परम्परा पूर्णतया शालीन है पर सामन्तीय काव्य में वर्णित नायक - नायिका की छवियों के मोहक दृश्य श्रृंगार और रूप गर्व के ही उदाहरण हैं। स्वयम्भू द्वारा सीता के रूप का चित्रांकन[1] यदि पाठक के चित्त में साक्षिक राग जगाता है तो चारणों द्वारा वर्णित रूप की झांकी से जो स्वर्णिम किरणें मन पर बिखर जाती हैं वे पाठक के चित्त में श्रृंगार की ज्योति भर देती हैं। पद्मावती के वेश - विन्यास का निरूपण[2] श्रोताओं और पाठकों के चित्त में रति रस का यही प्रभाव उत्पन्न करता है।

सामान्य पाठकों की यह धारणा है कि आदिकाल के साधनात्मक काव्य में वीरता मूलक रचनाओं का कोई महत्व नहीं है किन्तु किए गए अनुशीलन के परिणामस्वरूप इस शोध - प्रबन्ध में जो तथ्य सामने आए हैं वे सर्वथा नयी दिशा का निर्देश करते हैं। राजस्थान और गुजरात के विभिन्न जैन ग्रन्थागारों में उपलब्ध सामग्री से यह प्रमाणित हो चुका है कि जैन कवियों द्वारा लिखित चरित काव्यों में वीर भाव की एक अजस्र और जीवन्त ऐसी परम्परा पाई जाती है जो चारण कवियों द्वारा लिखी गयी वीरगाथाओं के वीर भाव से घट कर नहीं है। इस शोध - प्रबन्ध के चौथे अध्याय में वीरता मूलक प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए हमने स्वयम्भू रामायण, जम्बू स्वामि चरिउ, पउम चरिउ, भरतेश्वर बाहुबलि रास, उत्तरपुराण, भविसयत्त कहा, करकण्ड चरिउ, महापुराण आदि जिन ग्रन्थों के जो उद्धरण प्रस्तुत किए हैं उनके प्रकाश में यह मानने में कोई कठिनाई नहीं कि चारणों की कृतियों के पूर्व जैन कवियों की रचनाओं में वीर भाव की ऐसी स्थिति पाई जाती है जिसका परवर्ती वीरगाथा काल से बहुत कुछ साम्य है। हां, यह अवश्य है कि वीरगाथाओं में जहां कवियों का लक्ष्य वीरता का ही उद्गार है वहाँ जैन सन्तों की कृतियों में आयातित चरित नायकों की वीरता का वर्णन प्रसंगवश आई हुई वस्तु के रूप में स्वीकृत है। उनका लक्ष्य जैन मतावलम्बी और जैन मत के रक्षक राजा का तेज ----------------------------------

1- रामायण : 38/3/
2- पृ०रा०रा० : भाग 2 : समय 13 छन्द संख्या 246

प्रताप वर्णन ही था । धर्म विशिष्ट की दृष्टि से इन वीर प्रसंगों को पाठकों के सामने लाकर कवियों ने या तो जिन भगवान की महिमा गाई है या फिर इन पराक्रमी वीर पुरुषों को जैन धर्म में दीक्षित करा दिया है । ऐसी स्थिति में अपभ्रंश और डिंगल काव्यों में पाई जाने वाली वीरता मूलक प्रशस्ति भावना में वही अन्तर है जो अन्तर इन दोनों प्रकार के कवियों और इन कवियों के समकालीन परिवेश में है ।

अपभ्रंश भाषा में लिखा गया जैन, सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय को परिपोष देने वाला काव्य चाहे कितने भावों और विचारों से मण्डित हो, उसका मूल स्वर भक्ति है, साधना है । किन्तु वीरगाथाओं में भले ही नवों रसों की स्थिति पायी जाती हो, जीवन की विभीषिका में जूझने वाले, रणांगन की हत्या-हत्या के बीच क्षात्र दर्प का निदर्शन ही इन रचनाओं का मुख्य लक्ष्य है । यह राजस्थान के रण बांकुरों की वह वीरगाथा है जिसके राग से रंजित होकर राजपूताने की मिट्टी का कण - कण आज भी रक्तप्लुत है । हिन्दू वीरों के तेज एवं दीप्ति से जगमग कर रही जीवन की यह शिखा अपने समग्र रूप में प्रवृत्ति और दाम्पत्य सुख-भोग की ध्वजा को मुक्त आकाश में उड़ा रही है, जबकि जैन, सिद्ध और नाथ पंथी साधक संसार के बीच यमयातना से संत्रस्त होकर इन्द्रिय निग्रह, इच्छा-दमन, त्याग और तितीक्षा पर स्वीकृति देते हुए निवृत्ति की दुन्दुभी बजा रहे हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी पुत्रों की जीवन संहिता के विचार से यदि आदिकाल के अपभ्रंश और चारण काव्य का मूल्यांकन किया जाए तो तटस्थ दृष्टि अपनाने के कारण यह कहना पड़ेगा कि चारणों की मान्यताएं आधुनिक भारत के लिए अधिक सत्य है । भारत के उन्मुक्त आन्दोलन में जागृत राष्ट्रीय भावना का जगनिक और चन्द बरदाई की वीरगाथाओं और पंवारों के साथ अधिक साम्य बैठता है । भूषण से लेकर दिनकर तक हिन्दी काव्य की परवर्ती परम्परा में राष्ट्रीय चेतना का जो विकास देखा जाता है, उसका बीज इन्हीं वीरगाथाओं में है । यहाँ यह सत्य भी स्वीकारना पड़ता है कि हिन्दी के मध्यकालीन भक्त कवियों की बानियों में यम, संयम, नियम, तप, त्याग पूजा-पाठ, ईशाराधना आदि की निवृत्ति मूलक जो संवेदनाएँ हैं वे निस्सन्देह जैन, सिद्ध और नाथ कवियों की मान्यताओं के विकास की परम्परा का परिणाम है । अस्तु आदिकाल के इस साहित्य के आदान-प्रदान के विषय में भी कुछ विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है ।

आदान - प्रदान

पूर्ववर्ती काव्य का आदिकालीन काव्य से सम्पर्क :-

हिन्दी साहित्य का आदिकाल उस अपभ्रंश भाषा की रचनाओं से प्रारम्भ होता है जो मध्यकालीन आर्य भाषा के अन्तिम चरण के रूप में स्वीकृत है। यह चिन्त्य है कि "भारतीय आर्य भाषा के विकास की जो अवस्था अपभ्रंश नाम से जानी जाती है उसके लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अपभ्रष्ट, अपभ्रंश तथा प्राकृत अपभ्रंश ग्रन्थों में अ.भ्रं., अवहंस, अपभ्रंश, अवहट्ठ, अवहठ, अवहट आदि नाम मिलते हैं। संस्कृत में प्रायः अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया गया है, 'अपभ्रष्ट' शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण जैसे दो - एक ग्रन्थों ने ही 'अपभ्रष्ट' [illegible] ।"[1] स्पष्ट है कि जीवन और जीवन बोध की तमाम क्षमताओं के साथ व्यंजित होने वाले 'जीवन' की भाषिक संरचना के अन्तर के साथ ही साथ अपभ्रंश भाषा में संस्कृत की अपेक्षा नागर अनुभूतियों की बहुत कमी है। किन्तु पाण्डित्य, प्रतिभा, छन्द, ज्योतिष, शास्त्र-दर्शन, पिंगल,पुराण आदि विषयों के विचार से अपभ्रंश भाषा की बड़ी जीवन्त परम्परा है जिसको उसने संस्कृत की सुदीर्घ दाय के रूप में प्राप्त किया है। यह परम सत्य है कि संस्कृत काव्य धारा से पोषित प्रशस्ति वाचन की एक बहुत प्रभावी और लम्बी परम्परा रही है, जिससे संस्कृत काव्य एक ओर तो उच्च कोटि के स्तोत्र काव्य की परम्परा को सम्पन्न बनाता रहा है और दूसरी ओर [illegible] संस्कृत प्रधान प्रशस्ति की पावन धारा लोक रक्षक नीतियों के यशगान के रूप में प्रवाहित होती रही है। यह कहने कि आवश्यकता नहीं कि परवर्ती अपभ्रंश और डिंगल भाषा की रचनाओं में पूर्ववर्ती भाव की यह परम्परा सम्पन्नता के साथ संपोषित है।

पिछले अध्यायों में विषय का जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि हिन्दी का आदिकालीन साहित्य त्रिवर्गों में विभक्त है। जैन, सिद्ध और नाथ कवियों ने इस काल की पुरानी पोथियों और मुक्तक रचनाओं को अपने धर्म और सम्प्रदाय के सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए लिखा था, किन्तु काव्य तत्व की दृष्टि

1- अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप । (खण्ड 3, अध्याय 3)

से यह सभी कृतियाँ हिन्दी के आदिम युग के गौरव ग्रंथ हैं । इनमें प्रतिबिम्बित होने वाला जीवन, समाज और जीवन तथा समाज का बोध अपनी समकालीनता में पूर्ववर्ती साहित्य परम्परा से बहुत दूर तक प्रभावित है ।

"आदिकाल में दो प्रकार की काव्य कृतियाँ पाई जाती हैं - परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखी गई तथा अन्य ऐसी जिनमें यद्यपि अपभ्रंशाभास पाया जाता है तथापि कवि ने देश भाषा के समीप की काव्य शैली अपनाई है । इस काल में लिखे पुराणों एवं चरित काव्यों की शैली मुख्य परिनिष्ठित अपभ्रंश है किन्तु चर्चरी, रास तथा फागु काव्यों की भाषा में परिनिष्ठता की पाबन्दी नहीं पाई जाती । चर्चरी, रास तथा फागु काव्य श्रावकों के गाने के लिए ही निबद्ध किए जाते थे । ये प्रारम्भिक हिन्दी की कृतियाँ मानी जा सकती हैं । इनमें प्राचीनतम काव्य शालिभद्र सूरि का बाहुबलि रास है । रास काव्य परम्परा के कुछ अप्रकाशित काव्य - जम्बुस्वामि रास (रचना काल वि0सं0 1363), रेवन्तगिरि रास (वि0सं0 1288), कच्छूली रास (वि0सं0 1363), गौतम रास (वि0सं0 1412) आदि । इस काल के जैन चरित काव्यों में पउमसिरी चरिउ (1100 वि0सं0), जंबू चरित्र (1299 वि0सं0), वयर स्वामि चरित्र (1316 वि0सं0), गौतम [illegible] चरित (1302 वि0सं0), [illegible] चरित (1358 वि0सं0) । अन्य काव्यों में मदन रेखा संधि (वि0सं0 1297) तथा नंदा [illegible] संधि (1326 वि0सं0) का पता चलता है । इस काल की दो फागु काव्य कृतियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं — जिनपद्म सूरि कृत थूलि भद्द फागु (1257 वि0) तथा राजशेखर सूरि कृत नेमिनाथ फागु (1370 वि0सं0) ।

प्रारम्भिक हिन्दी की मुक्तक कविताओं का संकलन 'प्राकृत पैंगलम' में मिलता है । इसमें जज्जल, बब्बर, विद्याधर, हरिब्रह्म आदि कवियों की रचनाएं हैं । आलम्बन की दृष्टि से इनमें बब्बर पुराने हैं जो कलचुरि नरेश कर्ण के राजकवि (1107 वि0 के लगभग) थे । बब्बर के नाम से कुछ पद्य प्राकृत पैंगलम् में हैं, यथा —

भल भुज्जउ कुंजर तेज्जि मही । तुअ बब्बर जीवण अज्जुणही ।
जइ दुम्मिअ कण्ण णरेंदवर । रण को हरि को हर वज्जहरा ॥'

इनके बाद विद्याधर आते हैं जो काशी नरेश जयचन्द गाहड़वाल (1250 वि0) के महामन्त्री थे । इनकी कई फुटकर कविताएं भी यहीं पाई जाती

है । निम्न पद्य में विद्याधर ने काशिराज की प्रशंसा की है -

भअ भंजिअ वंगा भग्गु कलिंगा, तेलंगा रण मुक्कि चले ।
मरहट्ठा दिट्ठा लग्गिय कट्ठा, सोरट्ठा भअ पाअ पले ।
चंपारण कंपा पव्वअ झंपा, ओत्था ओत्थी जीव हरे ।
कासीसर राणा किअउपआणा, विज्जाहर भण मंतिवरे ।

इनके अतिरिक्त अन्य कवियों की रचनाएँ प्राकृत पैंगलम् में संगृहीत हैं । ये कविताएँ दो तरह की मानी जा सकती हैं - भक्तिमूलक स्तुति तथा इतर । स्तुति परक मुक्तकों में विष्णु, शिव, शक्ति तथा दशावतार की स्तुतियाँ हैं । इतरमुक्तकों में एक ओर अधिक संख्या राज प्रशस्ति परक मुक्तकों की है, दूसरी ओर शृंगारमय मुक्तकों की । इनके अतिरिक्त नीतिपरक सूक्ति मुक्तक भी पाए जाते हैं । वर्णन शैली की दृष्टि से इन पर संस्कृत साहित्य के स्तोत्र काव्य, राज प्रशस्ति काव्य तथा शृंगारी एवं नीति सम्बन्धी मुक्तकों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है ।"1

पूर्ववर्ती संस्कृत कविता में वस्तु एवं शिल्पगत प्रभाव की यही प्रतिलक्षणा आदिकालीन जैन काव्य पर पूर्ववर्ती भाषा का प्रभाव है । रामायण और महाभारत में वर्णित राम और कृष्ण तथा दो चरित प्रधान पौराणिक शैलियों को ध्यान में रख कर ही जैनाचार्यों ने अपने चरित काव्य की रचना की है । संस्कृत के शृंगार रस प्रधान काव्यों की परम्परा के अनुकूल ही हिन्दी के आदिकालीन असंख्य रास काव्य जैन कवियों द्वारा रचे गए हैं । इन रास या रासान्यो काव्यों में सामन्तीय शृंगार और लोक रस की ही प्रधानता है किन्तु धार्मिक दृष्टि से अनुप्रेरित जैनाचार्य और जैन श्रावकों ने रास काव्य द्वारा अलौकिक रस के अनुभूति के बहुविध परिवेश रचे हैं । इनमें आयातित विषय के स्वरूप की सनातनता के साथ व्यंजना कौशल का भी पूर्ववर्ती काव्य से बहुत कुछ साम्य देखा जाता है ।

जज्जल, बब्बर, विद्याधर आदि कवियों की मुक्तक रचनाएँ संस्कृत मुक्तक काव्य के कथ्य और शिल्प के प्रभाव ग्रहण करती रही हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति, शृंगार, स्तुति, प्रशस्ति, नीति, राजनीति से सम्बद्ध रचनाओं की आन्तर

1- हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास : भाग 1 : पृष्ठ- 398 - 404

चेतना और उनका बाहरी ढांचा, कथन की शैली अर्थात् अन्दाजे बयां पूर्ववर्ती काव्य परम्परा से प्रभावित है ।

<u>जैन काव्य का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव :-</u>

आदिकालीन जैन काव्य पर पड़ने वाले इस पूर्ववर्ती प्रभाव की स्वीकृति के साथ यह भी स्वीकारना पड़ता है कि जैन कवियों की लम्बी चरित और उपदेश प्रधान रचनाओं का प्रभाव हिन्दी की परवर्ती भक्ति कालीन कृतियों में देखा जाता है । 'नानापुराण निगमागम सम्मतंयत्' के रूप में अपने मानस की विषय भूमि को संकेतित करने वाले तुलसीदास ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' के रूप में शायद अपभ्रंश के जिस साहित्य का स्मरण करना चाहा है उनमें संभवतः जैनियों के राम चरित काव्य अपना प्रमुख स्थान रखते हैं । जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये चरित प्रधान रचनाओं में तप, त्याग, क्षमा, शील, मोद, सदाचार, दया आदि वृत्तियों का बाहुल्य रहा है, जिनसे परवर्ती हिन्दी भक्ति आन्दोलन की प्रबन्ध धारा अनिवार्यतः प्रभावित है ।

आदिकाल के अन्तर्गत ही जैन कवियों के पश्चात् राजस्थान के चारणों द्वारा डिंगल भाषा में लिखी गयी वीरगाथाओं में मरु गुर्जर काव्य की पूर्ववर्ती परम्परा का गहरा प्रभाव देखा जाता है । यह भी एक प्रामाणिक सत्य है कि वीरगाथाओं में जिस शौर्य, दर्प, दीप्ति और शृंगार की झांकी देखने को मिलती है, जैन कवि उसका प्रयोग बहुत पहले कर चुके थे । 'भारतेश्वर बाहुबलि रास' में उत्कृष्ट वीर रस का दिगन्त व्यापी प्रभाव परवर्ती वीरगाथाओं पर पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक था । इसी प्रकार जैनियों के बाद हिन्दी काव्य परम्परा को गति देने वाले आदिकालीन कवि सिद्ध और नाथों की रचनाओं में परमात्म प्रकाश, योगसार तथा सावयधम्म दोहा से बहुत कुछ ग्रहण किया गया है ।

निष्कर्षतः यह माना जा सकता है कि जैन कवियों के सात्विक आचरण और उनकी रचनाओं में वर्णित जीवन का अनेक सात्विक आयाम, कथ्य और कथन की शालीनता से न केवल समकालीन अपितु परवर्ती हिन्दी काव्य संसार प्रभावित हुआ है, और प्रभावित हो रहा है ।

सिद्ध साहित्य का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर प्रभाव :-

जैनियों के बाद सिद्धों - नाथों की रचनाएँ आदिकाल की साहित्य - सम्पदा की दृष्टि से विचारणीय हैं । सिद्धों में प्रथम सिद्ध और साहित्यकार सरह हैं । सरहपाद नई भाषाओं और छन्दों के युग के आदि कवि हैं, संत सिद्ध परम्परा के आदि कवि होकर भी आध्यात्मिकतौर पर वह नई दिशा देने वाले हैं; उन्हें विनीय बौद्ध वह ... योग अतिश्योक्ति से काम नहीं लेते ।[1] यह कथन हैं ... राहुल सांकृत्यायन का । पूर्वी प्रदेश के किसी राज्ञी नगर में एक ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया । सरहपाद के गुरु थे हरिभद्र, जो प्रसिद्ध पालवंशी राजा धर्मपाल (770 - 813) के समकालीन थे । इनका पहला नाम राहुल ... और ... पर नालन्दा विश्वविद्यालय में थे; वज्रयान के प्रथम सिद्ध होने के कारण सरहपाद कहलाए । सरहपाद ने ध्यान के साथ करुणा पर जोर दिया । इनकी अपभ्रंश रचनाओं को दोहा कोश या दोहा गीति कहते हैं । इनकी प्रसिद्ध रचना 'दोहा चर्या गीति' में दोहा की अपेक्षा चौपाइयाँ अधिक हैं । इनमें योग की उन क्रियाओं और पदशक्तियों का संकेत है जिनके सूत्र महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में पाए जाते हैं । किन्तु सिद्ध सरह का चिन्तन क्षेत्र बौद्ध साधना से प्रभावित रहा है इसलिए इनकी कृतियों और इनके आचरण में भारतीय धर्माडम्बर का पूरा अपलाप पाया जाता है । इंगला, पिंगला, काया, नगरी, और ... रस, ... का पूरा अपलाप पाया जाता है । ... सहजाचार, ... साधनापरक ... और शब्दावलियों की योग सम्मत सृष्टि ... सरह ... समस्त सिद्धों की रचनाओं में हुई है ।

चरित्र ... अवतार ... :-

वेदों और पुराणों में राम और कृष्ण के जिन सूत्रों के ताने बाने उनके ... की अलौकिकता ... लोक ... पूर्ण करते रहे, उनका प्रभाव जैन कवियों ... की ... पर भी परिलक्षित है । यह बात और है कि राम और कृष्ण भारतीय के ... में भी ... है । यह बात और है कि राम और कृष्ण भारतीय ... में महापुरुष, महावीर, लोक - व्यवस्थापक, पुराण पुरुष और ईश्वरीय ऐश्वर्य से मण्डित होकर अवतारी व्यक्तित्व को अनेक भूमिकाओं में आदि से लेकर अब तक देखे परखे जाते रहे हैं । यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि पद्मपुराण -

---

1- अपभ्रंश काव्य धारा : देवेन्द्र कुमार जैन : पृष्ठ - 15

पउम चरिउ और हरिवंश पुराण जैसे ग्रन्थों में पुष्पदन्त और स्वयम्भू के प्रातिभ कौशल का सम्बल लेकर राम और कृष्ण की जो कथा कही गयी है उसमें उभय व्यक्तियों का महापुरुषत्व ही प्रतिष्ठित है, अवतारी रूप नहीं । किन्तु दृष्टि भेद से राम और कृष्ण के जीवन की तमाम महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जहाँ पउम चरिउ और हरिवंश पुराण में लौकिक महनीयता का निरूपण करती हैं वहाँ मध्ययुगीन हिन्दी काव्य चेतना के तल पर वे ही घटनाएँ सूर और तुलसी की भक्ति भावना के प्रकाश में लीला का आवरण धारण करके अवतारवाद के रंग में रंजित हो उठी है । यह भी सत्य है कि "अवतारवाद का आरम्भ चाहे कितना पहले हुआ हो लेकिन अवतार में लोक जीवन का सामान्य विश्वास जितना मध्य युग में प्रचलित हुआ, उतना पहले कभी न था । अवतारवाद को यह व्यापकता निश्चित रूप से भक्ति आन्दोलन द्वारा मिली । सन्त और भक्त कवियों का यह सामान्य विश्वास था । पिण्ड में ब्रह्माण्ड को देखना, ब्रह्मरन्ध्र में अनहदनाद को सुनना, पद्मावती में अलौकिक सत्ता का आभास पाना, दशरथ सुत राम में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के दर्शन करना और वसुदेव सुत कृष्ण में लीलाधाम परमात्मा को निहारना, यह सब प्रकारान्तर से उसी अवतारवादी भावना के ही विविध रूप हैं । विविध धर्मों और सम्प्रदायों के अनुरूप अवतारवाद की एक ही भावना ने अनेक रूप धारण कर लिया था ।"[1] बाद के हिन्दी भक्ति साहित्य में इन्हीं मान्यताओं का प्रचार प्रसार देखा जाता है ।

राहुल सांकृत्यायन ने प्राचीन कवियों की कृतियों के पाठ संकलन के बीच तुलसी पर स्वयम्भू के रामायण का प्रभाव निःसंकोच स्वीकार किया है ।[2] उद्देश्य की भिन्नता के कारण राम के प्रति जो दृष्टि स्वयम्भू की थी, तुलसी की दृष्टि उससे भिन्न रही । किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पुराण, आगम, निगम, वाल्मीकि रामायण आदि आदिकालीन भारतीय आर्य भाषा के काव्य वाले राम का रूप आदि मानकर तुलसी की रचना प्रक्रिया को प्रभावित कर सकता है तो 'क्वचिदन्यतोपि' की व्याख्या में तुलसी पर स्वयम्भू का प्रभाव मानना भी सम्भावना का औचित्य है । मेरा आशय मात्र इतना है कि जिस अपभ्रंश भाषा की कुक्षि से हिन्दी विकसित हुई उसमें उपलब्ध राम और कृष्ण कथा मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति

1- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृष्ठ - 270

2- हिन्दी काव्य धारा : पृष्ठ - 52.

काव्य को परोक्ष रूप से ही सही प्रभावित अवश्य करती है । इस विवेचन से ऐसा लगता है कि नर चरित्र की महनीयता से मण्डित राम और कृष्ण के व्यक्तित्व का यह वैराट्य ही आगे चलकर सूर और तुलसी की भक्ति संपोषित कृतियों में अवतारवाद की मनहर सृष्टि करता है । पूर्व पर क्रम से इन पौराणिक चरित्रों का रूपान्तरण आदानप्रदान की एक स्वस्थ परम्परा की प्रतिष्ठा करता है ।

सिद्ध - नाथ साहित्य और मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन :-

भक्ति आन्दोलन धार्मिक चेतना से अनिवार्यतः सम्बद्ध न होते हुए भी अभिव्यक्त हो जाने के पश्चात् धर्म की पूंजी अवश्य बन जाता है । हिन्दी काव्य में संत मत के संचरण और भक्ति - भाव के विभावन व्यापार की प्रक्रिया कबीर से रेखांकित की जाती है । 'ढोला मारू रा दूहा' में प्रेम के दोहों का कबीर के ईश्वर प्रेम सम्बन्धी दोहों पर काफी प्रभाव है ।[1] यहाँ इस तथ्य को भी रेखांकित कर देना आवश्यक है कि रामानन्द की शिष्य परम्परा में निर्गुण का संदेश लेकर यदि कबीर आए तो सगुण की धारा लेकर चोटी के सन्त शिरोमणि तुलसीदास का भी अवतरण हुआ । हिन्दी के इस भक्ति आन्दोलन की उभय धाराओं के पृथक् प्रवाह के उद्गम के पूर्व आदिकालीन हिन्दी कवि सिद्ध और नाथ अपनी बानियों में जाति, धर्म, लिंग के आवरण को तोड़ते हुए सहज शून्य की साधना की दुहाई दे चुके थे । परवर्ती हिन्दी सन्त और भक्ति आन्दोलन के बीज रूप में सिद्धों - नाथों की बानियों की महिमा सर्वतोभावेन मान्य है । यह अवश्य है कि इन सिद्ध और नाथों की उपासना विषयक पद्धति और क्रिया से कबीर की अधिक समता है । धर्म और साधना के क्षेत्र में आडम्बर, दम्भ, बाहरी दिखावा का खण्डन करते हुए आदिकालीन हिन्दी कवियों – सिद्धों-नाथों ने भक्ति के राजमार्ग के निर्माण की आधारशिला दे रखी थी । कबीर ने सिद्धों नाथों के द्वारा निर्दिष्ट दिशा में हिन्दी के भक्ति मार्ग को प्रशस्त किया है । उनकी इस 'अप्रतिहत' वृत्ति एवं भक्ति को सन्त नाभादास ने अपने भक्तमाल में स्वीकारा है –

"भक्ति विमुख जो धरम सोई अधरम करि गायो । जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो ॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी । पक्षपात नहिं वचन सबहिके हितकी भाखी ॥"[2]

1- हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - 16

2- श्री भक्तमाल सटीक : संस्करण 5, 1969 : पृ० - 479

सिद्ध और नाथ कवियों को योगाचार सम्मत उक्तियों को पैनी पैठ कबीर की वाणी में दिखाई पड़ती है । कबीर ने शिव की पुरी अर्थात् काशी में बुध्दि साधक रामानन्द के निवास और उनसे मिल कर धर्म विचार के जिन प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है उनमें शिवपुरी का अर्थ ब्रह्मरन्ध्र भी हो सकता है । इस शिवपुरी का ब्रह्म रन्ध्र के पक्ष में प्रयोग स्वयं सिद्ध और प्रथम नाथ गोरखनाथ भी कर चुके थे --

अहूठ पटण में भिषा करै । ते अवधू शिवपुरी संचरै ।[1]

यही बात तो कबीर ने भी लिखा है --

शिव की पुरी बसै बुधि सारु
तहं तुम मिलि कै करहु विचारु ।

आदिकालीन काव्य का प्रेममार्गी काव्य पर प्रभाव :-

जायसी आदि सूफी कवियों द्वारा लिखी गयी प्रेमगाथाओं में लोकरस से सिक्त लौकिक जीवन का चित्रण तो हुआ ही है, आध्यात्मिकता और दार्शनिकता की दृष्टि से भी यह काव्य प्रायः महिमावान है । सूफियों के लौकिक प्रेमाख्यान की भूमि धर्म रस से गाढ़ी है । इन प्रेम कथाओं की उत्तम परिणति आध्यात्मिकता के जिस रंग ढंग में होती है, वह निश्चित रूप से महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की उस दीप्ति है जो सिद्धों - नाथों की बानियों में लगातार प्रयुक्त होने के कारण साहित्य - सर्जना के क्षेत्र में अपनी शालीन सत्ता बना चुकी थी । सूफी काव्यों में नायिका को पाने की आकुलता और ललक में कवियों ने नायक से सिंघल की यात्राएं कराई हैं । यह स्मरणीय है कि सिंघल सिद्ध साधकों को सिद्ध पीठ रहा है । जिस प्रकार सिद्धों को सिंघल में सिद्धि मिलती रही उसी प्रकार प्रेमगाथा के नायकों को सिंघल में प्रेमिकाएं मिलती रहीं । उपासना भेद से उपलब्धि या केन्द्र स्थान एक ही (सिंघल) दिखाया गया है। योगाचार का यह प्रभाव प्रेम गाथा काव्यों में अपभ्रंश काव्यों के माध्यम से आया है । अपभ्रंश की प्रसिद्ध रचना 'करकण्ड चरिउ' का नायक भी सिंघल में जा कर वहाँ की राजकुमारी को प्रेमिका के रूप में प्राप्त करता है ।

1- गोरखबानी : डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : पृ०-16 साहित्य सम्मेलन प्रयाग 1999

अब्दुर्रहमान की कृति - 'सन्देश रासक' में विजयनगर की नायिका के वियोग वर्णन से 'पद्मावत' के नागमती का विरह वर्णन पूर्णरूप से प्रभावित है । 'तुलसी और जायसी के महाकाव्यों में प्रयुक्त दोहा और चौपाई की पद्धति के संस्कार सूत्र भी अपभ्रंश महाकाव्यों में पाए जाते हैं ।'[1]

गुरु की महिमा गान सिद्धों - नाथों की कविता का मुख्य अंग था, इस बात की प्रशस्ति के भेदों का निरूपण करते हुए हम स्पष्ट कर चुके हैं । परवर्ती हिन्दी संत और भक्त कवियों में - सगुण - निर्गुण, ज्ञानाश्रयी - प्रेमाश्रयी, रामभक्ति - कृष्णभक्ति के बीच गुरु को ब्रह्म के श्रेष्ठ या ब्रह्मवत महत्व प्रदान किया गया है । धर्म साधना के क्षेत्र में गुरु के व्यक्तित्व की आराधना का यह महनीय भाव परवर्ती हिन्दी कविता में आदिकालीन साधनात्मक साहित्य की प्रेरणा का परिणाम माना जा सकता है । हिन्दी भक्ति काव्य के लिए सिद्धों - नाथों का यह प्रदेय उल्लेखनीय है । घट में ब्रह्माण्ड की कल्पना, काया योग, स्वर्णशिला, कुण्डलिनी, इंगला-पिंगला, दशम द्वार आदि योग सम्मत शब्दावली का प्रयोग करते हुए हिन्दी के निर्गुण सम्प्रदाय वाले कवियों ने संत आन्दोलन को जिस राह से आगे बढ़ाया है उसके आधार में सिद्धों - नाथों की योगाचार मूलक रचनाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जाता है ।

आदिकालीन काव्य का रीतिकाव्य पर प्रभाव :-

आश्रयदाताओं की यशगाथाओं का अतिरंजनापूर्ण गान रीति काव्य की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति थी । इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रचार - प्रसार अपभ्रंश के चरित काव्यों में आदिकाल के कवि कर चुके थे । नायक - नायिका भेद का वर्णन, षड्ऋतु, बारह-मासा का चित्रण और नख-शिख पद्धति के द्वारा श्रृंगार रस की विवेचना का उपक्रम रीति कवियों की कविता का प्राण है । अपभ्रंश के चरित तथा सन्देश रासक जैसे विरह काव्यों में यह प्रवृत्ति अलबेली ढंग से पाई जाती है । उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश के मुक्तक काव्यों में उपलब्ध श्रृंगार रस की चामत्कारिक उक्तियाँ हिन्दी साहित्य के रीति कालीन कवियों के मुक्तक काव्य में पुनः लौट आई हैं । इस प्रकार आदिकालीन हिन्दी के विभिन्न प्रकार के काव्यों और प्रवृत्तियों का परवर्ती हिन्दी काव्यों पर प्रभाव पड़ा है।

1- हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ - 37 .

चारणों की वीरगाथाएं और हिन्दी का परवर्ती वीर काव्य :

राजपूताना की संस्कृति में जीवन की प्रमुख प्रेरणा और परिपाक वीर धर्म और वीर रस रहा है । 10वीं शती से लेकर 13वीं - 14वीं शती तक इस वीर भूमि में वीरता की तरंगें जीवन के चतुर्दिक् उठती रहीं । राजनैतिक दृष्टि से सत्ता विषयक संक्रमण के कारण इस मरु भूमि में आत्मसम्मान के लिए मर मिटने का मन्त्र वाचन ही जीवन का प्रमुख लक्ष्य रहा । आत्मोत्सर्ग का यह इतिहास व्यक्तिगत सम्मान, जातिगत गौरव, संस्कृतिगत स्वाभिमान के साथ-साथ आज की दृष्टि से संकुचित देश भक्ति अथवा राष्ट्रवाद का भी प्रतीक माना जा सकता है । हिन्दी काव्य धारा की पूर्वापर परम्परा का आलोड़न - विलोड़न करने वाले अनेक विद्वानों ने राष्ट्रीय भावना का बीज आदिकालीन कवि चन्द की रचनाओं में देखा है । भूषण, लाल और सूदन के वीर काव्य को चन्द अविच्छिन्न की विरासत माना है । आधुनिक युग में खड़ी बोली कविता में पाई जाने वाली दिनकर आदि कवियों की राष्ट्रीय झंकृति की भाव को इस परम्परा के बेवटे जोड़ा जा सकता है । चारणों की डींग, भूषण जैसे कवियों की ललकार, निराला, दिनकर, माखनलाल, नवीन की राष्ट्रीय झंकृति का ऊर्जस्वित राष्ट्रवादी लक्ष्य का अदम्य पारस्परिक आदान - प्रदान की प्रक्रिया में एक व्यापक वृत्त रच कर रह गया है ।

डिंगल साहित्य प्रारम्भ से ही मानवीय जीवन्तता का सच्चा दस्तावेज होने के कारण महत्वपूर्ण रहा है । डिंगल उस राजस्थान की भाषा है जहां की धरती सदा ऐसी रणबांकुरे प्रसूत करती रही है । टॉड महोदय ने इस वीर भूमि पर दृष्टिपात करते हुए यह माना है कि राजस्थान के कवि तलवार और तूलिका के शास्त्र धनी रहे हैं । राजस्थान की पृथ्वीमाता की यदि प्रतिमा बनाई जाये तो एक हाथ में तलवार और दूसरे में वीणा देना ही ठीक होगा -

"There is not a petty State in Rajasthan that has not had its thermopylae and searely a city that has not produced leonidas"[1]

राजस्थानी भाषा अपभ्रंश की जेठी बेटी मानी जाती है । इस साहित्य

1- डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : वीर सतसई : पृ० - 84

के रचयिता मुख्य रूप से चारण और जैन विद्वान् हैं । चारण कवि प्रायः राज्याश्रित थे, इसलिए उत्सव, राज्याभिषेक, पुत्र-जन्म, युद्ध आदि के प्रसंग में आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा और महिमागान के गीत ही अधिक लिखा करते थे । चारणों द्वारा रची गयी इस प्रकार की कविताएं प्रायः मौखिक थीं । सम्भवतः इसलिए 15वीं शती से पूर्व की चारण कविता का प्रामाणिक पाठ सुलभ नहीं होता । यह संकेत दिया जा चुका है कि चारणों की काव्यधारा का मुख्य स्रोत वीर रस था । हिन्दी और संस्कृत की वीर रस पूर्ण कविताएं समरांगण की भयंकरता से दूर रह कर भले लिखी गयी हों किन्तु चारणों की कविता केवल कलम थामने वाले कवियों की कविता नहीं थी । तलवार के पानी की परीक्षा देने वाले कवियों द्वारा जीवन में भोगी गयी वीरता की अभिव्यक्ति थी । राजस्थान की वीर पत्नी भी पति के वीर वेश पर ही रीझती रही । सूर्य मल मिश्रण की 'वीर सतसई' में समरांगण में युद्ध हेतु गए हुए पति की पत्नी की वीरता विभूषित भावनाओं के अनेक चित्र देखे जाते हैं । रण से मुख मोड़ कर घर आए हुए पति का तिरस्कार करती हुई राजस्थान की वीर बाला कहती है -

की घर आवे थे पियो, रांण्यां वलती हाय ।
धन धारे धण नेवड़ै, लोधी वेग बुलाय ॥[1]

डिंगल साहित्य के साथ यह परम्परागत सत्य है कि वह जीवन की वीर भावना के वातावरण में पलती - पोसती रही है । डिंगल की पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्य की परम्परा भी वीर भाव की व्यंजना से मण्डित है । डा० नामवर सिंह ने अपभ्रंश भाषा की पूर्वापर परम्परा की भावसम्पदा में वीर रस की विशिष्टता का प्रश्न उठाते हुए यह स्वीकार किया है कि "जैन मुनियों की आचार प्रधान कृतियों के बीच उत्साह और दर्प से भरे हुए उस काव्य को देख कर साफ मालूम होता है कि वह आभीर, गोप, गुर्जर आदि युद्धप्रिय जातियों का उन्मुक्त हृदयोद्गार है । युद्धों का वर्णन तो अपभ्रंश के अनेक चरित काव्यों और पुराणों में भी मिलता है, लेकिन उनमें हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों के टाप की आवाज और शस्त्रों के नाम की लम्बी सूची ही अधिक मिलती; सच्चे वीर हृदय का उत्साह वहां कहां ? यदि ऐसा शौर्य

1- डा० नरेन्द्र भानावत: राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियां : पृ०-89 से उद्धृत ।

देखना हो तो हैम व्याकरण के इन उदाहरणों को देखें । यहां पुरुष का पौरुष ही नहीं, उसके पार्श्व में वीर रमणी का दर्प भरा प्रोत्साहन भी मिलेगा - यदि एक ओर शिव का ताण्डव है तो दूसरी ओर उनके पार्श्व में शक्ति का लास्य भी है ।'[1] वीर और शृंगार की इसी मिश्रित धारा का व्यापक प्रवाह राजस्थानी भाषा में लिखी गयी वीरगाथाओं का मुख्य विषय है । कालक्रम से परिवर्तित और प्रगतिशील साहित्य संचेतना के भावी आन्दोलनों के बीच केशव के 'वीर सिंह जू देव चरित' तथा भूषण के 'शिवा बावनी' जैसे काव्यों में पाई जाने वाली वीरता, देशभक्ति, जातिय प्रेम की जीवन्त, ज्वलन्त, फड़फड़ाती हुई अनुभूतियां डिंगल की वीर भावना के आदान-प्रदान के परिणाम हैं ।

जगनिक के 'आल्ह खण्ड' और चन्द के 'पृथ्वीराज रासो' में पाए जाने वाले रण के रक्तिम दृश्य - 'तेगा चमंके बर्दमान के कटि कटि गिरे सुघरन्वा ज्वान ।' में अनुभूति का आन्तर और बाह्य परिवेशीय यथार्थ का जो चित्र है, वही युगान्तर से भूषण की निम्न पंक्तियों में भी देखा जाता है -

निकसति म्यान ते मयूखैं प्रलय भानु कैसी,
फारैं तम तोम से गयन्दन के जाल को ।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिनी सी,
रुद्रहि रिझावै दै दै मुंडन की माल को ।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहां लौं बखान करौं तेरी करवाल को ।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देत काल को ।

यही नहीं हैम व्याकरण से जन्मने वाली युद्धोन्माद कोहराम तरंग चन्द और जगनिक की कृतियों में लहराती हुई केशव, भूषण, लाल, सूदन के द्वारा सहेजी जाने के पश्चात् आधुनिक युग के कवि, सुभद्राकुमारी चौहान, डा0 आनन्द और वृजेन्द्र अवस्थी की ओजपूर्ण वाणी में पूरी गर्जना के साथ पाई जाती है ।

1- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग : पृ0 - 230

वीर रस के साथ श्रृंगार की शालीनतम संपृक्ति के विचार से चारणों की काव्य कला अप्रतिम ठहरती है । मानसकार तुलसी में राम के चरित्र के वैराट्य की सुखद शीतल छाया में 'उत्साह और रति की यह कान्ति मोती की आभा के समान झलकती दिखलाई पड़ती है, और तभी हमारी दृष्टि दुष्ट दमनकारी, मर्दने-मथने की कामना से संचालित जीवन की वृत्ति लेकर आने वाले शक्ति के राम पर पड़ती है । वीरता और राष्ट्रीय सम्वेदना की यह धारा दिनकर के कुरुक्षेत्र और उनकी परवर्ती रचनाओं में भी दिखाई पड़ती है । युद्ध और शान्ति की समस्या 20वीं शती की हिन्दी कविता के सामने एक अहम समस्या रही है । अधिकांश कवियों ने इस प्रश्न का उत्तर ठीक उसी औचित्य व्यवस्था में दिया है, जिसका विधान चन्द और जगनिक ने किया था और जिसका उद्भव जैन कवियों की वचनावली में 6वीं 7वीं शताब्दी में हो ही चुका था ।

पूर्ववर्ती चारण काव्य की वस्तु वृत्ति का जो परवर्ती काव्य चेतना में विकास हुआ वो ऐसी बात नहीं, चारणों के पवारे, उनकी शैली, उनकी द्वित्व वर्ण प्रधान शब्द योजना, महाप्राणत्व, भाषा में ओजगुण का संगुम्फन आदि शिल्प तन्त्र सम्बन्धी समूची विशेषताएँ अपने पूर्णरूप या अवशेष में केशव के 'वीर सिंह जू देव चरित', 'जहांगीर जस चन्द्रिका', भूषण के 'शिवा बावनी' और छत्रसाल की प्रशंसा में लिखे गए छन्दों में पाई जाती है ।

इस संक्षिप्त विवेचन के प्रकाश में स्पष्ट लगता है कि आदिकालीन जैन सिद्ध और नाथ पंथियों की साधना पद्धति ने यदि हिन्दी के परवर्ती भक्ति आन्दोलन के सगुण - निर्गुण सम्प्रदायों को, साहित्य की रचना धार्मिता के विचार से वस्तु एवं शिल्प सम्बन्धी सम्बल प्रदान किया है तो राजस्थान के चारणों द्वारा डिंगल भाषा में लिखे गए राजपूत वीरों के पवारे अपनी भावगत और कलात्मक उपलब्धियों के संस्कार लेकर परवर्ती कवि केशव से लेकर दिनकर तक फैलते, फूलते और फलते रहे हैं ।

<u>अवदान और मूल्यांकन :-</u>

आदिकाल में अपभ्रंश भाषा के माध्यम से प्रस्तुत की गयी रचनाओं में साहित्य के जिन अंग - उपांगों, छन्दों, काव्य रूपों, रूढ़ियों के प्रयोग विनियोग किए

गए थे वे ही परवर्ती हिन्दी साहित्य के काव्य जगत के आधारिक उपादान बने। स्वर्गीय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए यह माना है कि वस्तुतः छन्द, काव्यगत रूप, वक्तव्य वस्तु, कवि रूढ़ियों और परम्पराओं की दृष्टि से (परवर्ती हिन्दी साहित्य) अपभ्रंश साहित्य का बढ़ावा है। इस अध्याय के आदान-प्रदान शीर्षक के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अपभ्रंश भाषा में लिखे गए आदिकालीन साहित्य के साधना मूलक और सामन्तीय स्वरूप से विकसित होने वाली एकाधिक प्रवृत्तियाँ और परम्पराएँ परवर्ती हिन्दी काव्य साधना को प्रभावित करती रही है। हिन्दी काव्य के निर्गुण सम्प्रदाय की ज्ञानमार्गी और प्रेम मार्गी कविताओं की दार्शनिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि के निर्माण में सिद्धों - नाथों द्वारा परिष्कृत योग दर्शन का गहरा प्रभाव है। सगुण उपासना के क्षेत्र में सूर के दृष्टि कूटों के गोप भाव में सिद्धों की सन्ध्या भाषा का प्रभाव देखा जाता है। जैन कवियों की चरित प्रधान रचनाओं और पौराणिक कृतियों के कलागत प्रतिमान न केवल जायसी अपितु तुलसी की कालजयी कृति मानस की भी कुछ दे गए हैं। रीति कवियों की प्रशस्ति भावना की तीखी अनुभूति, चमत्कार विधान, मुक्तकों की बहुलता को रूप और आकार देने में आदिकालीन काव्य के अवदान का विशेष महत्व है।

छन्द योजना के क्षेत्र में भी हिन्दी के आदिकाल की देन निर्भ्रान्त रूप से अप्रतिम और उल्लेखनीय है। हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले मात्रिक छन्दों का सूत्रपात अपभ्रंश रचनाओं में ही हुआ था। इस तथ्य से शायद कम लोग ही परिचित होंगे कि तुकान्त छन्दों की दृष्टि आदिकाल की अपभ्रंश भाषा की कृतियों में ही हुई थी। हिन्दी में मात्रिक छन्दों की जो प्रधानता देखी जाती है वह अपभ्रंश की देन है। अपभ्रंश साहित्य में कथा प्रधान काव्य के लिए दोहा छन्द का प्रायः प्रयोग हुआ है। शेष मुक्तकों के लिए रासा, कव्व, दुवई जैसे छन्द अपनाए गए हैं। यही क्रम हिन्दी में भी पाया जाता है। मानसकार के दोहा, चौपाई छन्दों का स्रोत 10वीं शती की रचनाओं में मिलता है।[1] हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले सवैया छन्द का विकास अपभ्रंश के त्रोटक छन्द के द्विगुणित रूप का परिणाम है।

1- हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : पृष्ठ 140

काव्य रूप के विचार से अपभ्रंश भाषा में लिखे गए आदिकालीन साहित्य का प्रदेय कम महत्वपूर्ण नहीं । शैय काव्य की दृष्टि से अपभ्रंश भाषा का आदिकालीन काव्य अत्यन्त सम्पन्न है । अपभ्रंश के रासक छन्द की परम्परा पर आदिकाल की डिंगल रचनाओं के अतिरिक्त आधुनिक युग तक लिखी जाने वाली वीर रस प्रधान रचनाएं प्रभावित हैं । फागु, चांचरि जैसे छन्द जो परवर्ती साहित्य में खूब प्रयुक्त हुए आज भाषा के परिनिष्ठित काव्यों का मंच छोड़ कर लोक गीतों के मंच पर चले गये हैं । चांचरि, धमार, फाग आदि शैलियां अपभ्रंश की ही देन है । भक्ति काल के सुनाम धन्य कवि सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, पलटू, मलूक ने अपनी आत्मानुभूति को जिस पद नामक छन्द में प्रस्तुत किया है उसकी परम्परा के प्रवर्तक सिद्ध थे । सिद्धों का चर्या पद गेय पद था जो बाद में विद्यापति की पदावली, सूर के सूरसागर, तुलसी की विनय पत्रिका में होने वाली पद योजना के रूप में दिखाई पड़ी ।

कवियों के रचना - संसार में कुछ रुचि सम्मत रूढ़ियां और अनुलंघ्य परम्पराएं भी होती हैं । किसी युग विशिष्ट या आन्दोलन विशिष्ट की कविता के मूल्यांकन में ये काव्य रूढ़ियां प्रभावी भूमिका निर्वाहती हैं । यद्यपि स्वामी प्रवृत्ति के स्वच्छन्द कलाकार इन रूढ़ियों के बन्धन को तड़ातड़ तोड़ कर अपनी मौलिक उद्भावनाओं की प्रतिष्ठा करते हैं जो भी समकालीन आन्दोलन का अधिकांश परम्परा वादी ही होता है । प्रबन्ध काव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण, आत्म कथन, दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशंसा, बीच में प्रसंगानुसार षड्ऋतु - बारहमासा का वर्णन आदि काव्य शैली की रूढ़ियां हैं । यह रूढ़ियां संस्कृत काव्य में भी हैं, किन्तु हिन्दी के आदिकाल के अपभ्रंश काव्य में इन रूढ़ियों का पालन पूरी चौकसी के साथ किया गया है । इसके प्रभाव स्वरूप तुलसी जैसे महाकवि ने भी रूढ़ियों के पालन में तत्परता दिखाई है । मुक्तक काव्य में छन्द की किसी पंक्ति में कवि के नाम के छाप की रूढ़ि अपभ्रंश कवियों की काव्य-परम्परा का परिणाम है । इसका पालन हिन्दी के भक्ति और रीति युग के कवियों ने बड़ी कठोरता के साथ किया है ।

इन सामान्य परम्पराओं के अतिरिक्त कवियों के लोक में कुछ विशिष्ट मान्यताएं भी हैं । सुन्दरियों के पाद प्रान्त के स्पर्श से अशोक का पुष्पित होना, हंस का नीर-क्षीर विवेक, रात्रि में चकवा - चकवी का विप्रलम्भ, हारिल के द्वारा लकड़ी

का अवलम्ब, चकोर द्वारा आग चुगने की बात आदि विशिष्ट प्रकार की काव्यगत रूढ़ियाँ हैं। सामान्य और विशिष्ट कोटि की ये सभी रूढ़ियाँ प्रायः आदि काल के कवि पुंगव स्वयम्भू और पुष्पदन्त की कृतियों में सुलभ हैं। माना जा सकता है कि पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरित मानस में रूढ़ियों के ये विनियोजन हिन्दी साहित्य को आदिकालीन काव्य परम्परा की देन हैं। अपभ्रंश साहित्य में आदिकाल के रचनाकारों ने जिन कथात्मक प्रतीकों का आविर्भाव किया था, परवर्ती कथा काव्यों में उन्हें तद्वत ग्रहण कर लिया गया है। शुक-सारिका के प्रसंग, दूती सन्दर्भ, नायक - नायिका के मिलन में पार्वती की कृपा आदि का रूढ़ रूप चन्द के रासो, जायसी के पद्मावत में भी मिलता है।

अपभ्रंश साहित्य और भाषा के अध्येता डा० नामवर सिंह ने यह स्पष्ट उद्घोषित xxxxx किया है कि 'भाव - धारा के विषय में अपभ्रंश से हिन्दी का रहा केवल ऐतिहासिक सम्बन्ध है पर काव्य रूपों और छन्दों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूप-विधान विषय वस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलता है और इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी ने अपभ्रंश की काव्य - सम्बन्धी अनेक परिपाटियों का ज्यों का त्यों और कुछ को थोड़ा सुधार कर स्वीकार कर लिया। इस तरह हिन्दी ने अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा का भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में ऐतिहासिक विकास किया।'[1]

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की मूल्यवत्ता एवं महत्ता तो प्रथमतः इस बात में है कि यही साहित्य का आरम्भ काल है। इस आरम्भिक युग में यदि एक ओर धर्म एवं साधना के क्षेत्रों से सम्भूत जीवन की पुनीत धाराओं की त्रिवेणी प्रवाहित हुई है तो दूसरी ओर चारण काव्यों की रचनाओं में पौरुष और भोग की, त्याग एवं वीरता की, कुरबानी एवं धर्म की अक्षय दिव्य रश्मियाँ जीवन के दाह से तीक्ष्ण रण बाँकुरे बाँकों के दैनन्दिन व्यवहार में पृथ्वी पुत्रों का सच्चा इतिहास लिखती रही हैं। एतद्युगीन काव्य के साधनात्मक और सामन्तीय स्वरूप की संयुक्त धारा में प्रतिबिम्बित होने वाला तत्कालीन जीवन दीन-दुनिया, लोक-परलोक, पृथ्वी-आकाश के समन्वय से जमने वाला सही जीवन है। आदिकाल की उक्त दोनों धाराएँ अपने-अपने क्षेत्र में

1- हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ - पृष्ठ 4।

एकांगी होते हुए भी समन्वित ढंग से जीवन की समग्रता का चित्र खींचती है। इस युग के साहित्य में यदि जैनियों का सत्य, अहिंसा और प्रेम अपने उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है तो सिद्धों की यौगिक क्रियाएँ और उस साधना से प्रसूत वामाचार के तान्त्र साधन क्रम लौकिकता में अलौकिकता के गम्भीर रस घोल गए हैं। नाथों की नैतिकता वादी सहज साधना के सत्य युग से उत्पन्न होने वाला वैचारिक विद्रोह भारतीय साधना के क्षेत्र में सहज सन्त मत का शिलान्यास करता है। ठीक इसी साहित्य-सम्पदा के सामने राजपूताना की मिट्टी से अँगड़ाई लेकर उभरने वाली क्षत्रिय कुमारों की उड़ानें, चारणों के कड़खे पवारे और उनकी ललकार पूर्ण वाणियों में वीरता के मादक गीत का आह्वान करती है। सचमुच इस युग के काव्य के अनुशीलन से ऐसा लगने लगता है कि प्रारम्भिक युग होते हुए भी हिन्दी साहित्य में जितनी सम्पन्नता और जितना आकर्षण इस युग में देखा जाता है, उतना अन्य युगों में शायद है ही नहीं। जैन, सिद्ध और नाथों की बानियों में अलौकिक प्रशस्ति की सोमाहीन अनुभूतियाँ निरूपित हैं। लोक और भक्ति मूलक भाव योग द्वारा अलौकिक सत्ता के यशगान की जितनी सुदृढ़ परम्परा, जितनी अनेकरूपता के साथ इस युग में देखी जाती है उतनी भक्ति युग में भी नहीं है। इसी प्रकार लौकिक वीरों की यशगाथाओं के मनमोहक दृश्य रणांगन में वर्णित वीरता के दर्प, तलवार के पानी की चमकदार लहरियाँ, तेगों की खटाखट, गोलियों की बौछारें, गोलों के धुआँ धक्कड़, घोड़ों की हिनहिनाहट तथा हाथियों के चिंघाड़ ने चारणों की वीर गाथाओं में जिस भव्य वातावरण की संरचना की है वह हिन्दी क्या विश्व के किसी भी साहित्य में खोजने से भी नहीं मिल सकता।

काव्य रूप की दृष्टि से आदिकाल में चरित काव्य, रास एवं रासान्यों काव्य, फागु, चर्चरी, महाकाव्य, पुराण, चर्यागीत, मुक्तक आदि अनेक शैलियों का प्रवर्त्तन और प्रौढ़ प्रयोग किया गया था। प्रधानता पद्य की ही थी, फिर भी वार्ता साहित्य में गद्य का भी सूत्रपात हो गया था। गद्य-पद्य के मिश्रण से चम्पुओं की रचना के भी संकेत मिलते हैं। स्वयम्भू, पुष्पदन्त, मुनि राम सिंह, जगनिक, चन्द बरदाई आदि प्रबन्धकार कवियों की सुख्यात रचनाओं के साथ-साथ अनगिन श्रेय मुक्तक काव्यों की भी रचना हुई।

दूहा, पद्धणि, त्रोटक, तोमर, हरिगीतिका, कुण्डल, चौपाई, सवैया, घनाक्षरी, कवित्त आदि के सारे वर्णिक और मात्रिक छन्द आदिकालीन काव्य क्षेत्र में भरे पड़े हैं। भाषिक संरचना के विचार से इस युग का काव्य और भी मूल्यवान है। डिंगल, पिंगल, देशज, अरबी, फारसी, पालि, प्राकृत के शब्द समूह और वाक्य विन्यास की छटा से साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी पूर्णतया परिचित है। सन्देश रासक जैसी कृतियों में विकीर्ण भाषा का माधुर्य सिद्धों, नाथों की साधनापूर्ण रचनाओं में प्रसाद गुण की महिमा के साथ ही चारणों की ओज-पूर्ण वाणी का विधान कभी भुलाया नहीं जा सकता। अलंकार विधान के विचार से उपमा, रूपक, दीपक, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, भ्रान्तिमान, अपन्हुति जैसे अर्थालंकार प्रयुक्त हुए हैं तो श्लेष, यमक, अनुप्रास के विदग्ध प्रयोग भी कलात्मक पद्धति से रचनाओं को आकार देते रहे हैं। तात्पर्य यह कि शब्द समूह, अलंकार - विधान, छन्द - योजना और विषय के लौकिक - अलौकिक पक्ष के विचार से इस युग का साहित्य किसी भी युग के साहित्य की तुलना में अधिक महनीय है। इस तथ्य की निर्भ्रान्त घोषणा करने में कोई संकोच नहीं होता कि समूची हिन्दी काव्य परम्परा में प्रशस्ति के उभय स्वरूपों का जितना बारीक विश्लेषण आदिकालीन कविता में पाया जाता है उतना रीति युग के दरबारी काव्य में भी नहीं है। सुनने में भले ही आश्चर्य लगे किन्तु वस्तुगत विचार से यह पूर्णतया सत्य है कि आदिकालीन काव्य की दोनों धाराएँ मूलतः प्रशस्ति के दो पृथक रूपों के निरूपण में सार्थकता प्राप्त करती हैं।

जीवन और साहित्य की अभिन्नता यदि एक सत्य है तो जीवन और जीवन में महत्व की स्वीकृति, प्रशस्ति और यशस्वी होने की कामना द्वितीय सत्य है। लौकिक और पारलौकिक सत्ता के आलम्बन भेद से आदिकाल के सामन्तीय और साधनात्मक काव्य का समूचा कथ्य ही प्रशस्ति भाव से है। जैन, सिद्ध और नाथ पंथियों के साधना रूपों में अलौकिक, अनिर्वच, अनादि, निराकार शक्ति की यशगाथाएँ, महिमाएँ अनेक प्रकार के अनेक शैलियों में गाई गयी हैं। जैनियों के चरित्र काव्य में प्रशस्ति भाव का लौकिक-अलौकिक दोनों पक्ष पूरे उत्कर्ष के साथ देखा जाता है। राजस्थान के चारण कवियों की कृतियों में नारी प्रेम, देशप्रेम, 'धर्म और संस्कृति के प्रेम से प्रेरित क्षात्र जीवन का अतिवादी भोग और युद्धोन्माद' का जो सात्विक

चित्र सामने आया था, वही स्तुति और सराहना का विषय बना । किन्तु इन वीर पुरुषों की गाथाएँ सफलता पूर्वक रचने के विचार से कवियों ने सुमिरनी और वन्दना का जो विधान किया है उसमें प्रशस्ति के अलौकिक पक्ष के अनेक आयाम उद्घाटित हुए हैं ।

आदिकालीन काव्य की प्रमुख देन प्रशस्ति भावना की व्यंजना है । किन्तु यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि चारणों की रचनाओं का मूल प्रेरक स्रोत ही प्रशस्ति भाव था । आदिकाल के अपभ्रंश काव्य में सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, शील, उच्च विचार, जीव दया, दान, परोपकार जैसे महनीय मूल्यों को यदि जैनियों ने उभारा दिया तो यम, संयम, नियम, निदिध्यासन, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योग के अष्टांगों की साधना इन्द्रिय निग्रह, जाति पाति के बन्धन से उन्मुक्त, धर्म और आडम्बर के प्रति विद्रोह, सहज शून्य पथ का प्रवर्तन आदि समाज और साधना सम्बन्धी रचनात्मक प्रवृत्तियों का सिद्ध - नाथ सन्तों की लेखनी से सफल सम्पादित होने का अवसर मिला है । नीति, धर्म, आचरण, सदाचार की जो गूंज नाथों की रचनाओं में सुनाई पड़ी थी वह कबीर को छोड़कर आज तक दुर्लभ है । रास और सहज मत की परिकल्पना करके इन नाथ सिद्धों ने साम्प्रदायिक समन्वय की व्यापक पृष्ठभूमि निर्मित की थी । चारणों की कड़कती ललकार भरी वाणी में गुंफन रहा आदिपर्व और भारतीय शौर्य की एक धारा न केवल हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए अपितु समस्त भारतीय जीवन की अमूल्य निधि है । इसे हम वीर काव्य का उत्तम उदाहरण तो मानते ही हैं, राष्ट्रवाद और देशभक्ति के बीजांकुरण भ्रूण के रूप में भी यही कविता स्वीकारी गयी है । लौकिक समृद्धि, सामन्तीय सुख भोग, युद्धों के जीवन्त चित्र, अस्त्र-शस्त्रों की खनखनाहट और रणांगन की हाय-हल्ला के बीच मुस्कराती और चमकती हुई भारतीय वीरों की जवानी का इससे बढ़ा-चढ़ा चित्र भारतीय साहित्य में कहीं सुलभ नहीं । यही कारण है कि हिन्दी के आदिकालीन काव्य की विभिन्न धाराओं के मूल्यांकन को लेकर शताधिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी कुछ ऐसा है जो कहा नहीं जा सका है ।